नवीन स ाज-व्य स्था में दा ... र

मुनि श्री नगराज जी

सम्पादक

सोहनलाल बाफणा

प्रकाशक
श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी सभा
४०६३, नया बाजार, दिल्ली।

प्रथम संस्करण
नवम्बर १९५७

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में श्रीयुत भीखालालजी रणजीतसिंह जी ईश्वर भवन, दिल्ली की ओर से श्री लाजपतरायजी जैन ने नैतिक सहयोग के साथ आर्थिक योग देकर अपनी साहित्यिक सुरुचि का परिचय दिया है, जो सबके लिए अनुकरणीय है। हम श्री जैन श्वे० तेरापन्थी सभा, दिल्ली की ओर से सादर आभार प्रकट करते हैं।

—मन्त्री

मूल्य : दो आना

मुद्रक
गोपीनाथ सेठ
नवीन प्रेस, दरियागंज, दिल्ली।

प्राक् थन

कहा जाता है कि "राम लंका-विजय के पश्चात् जब अयोध्या आये तो एक बहुत बड़ा समारोह किया गया। राम राज्य-सिंहासन पर बैठे और युद्ध में साथ देने वाले वीरों को एक-एक करके पारितोषिक देने लगे। हनुमान को छोड़कर सबको पारितोषिक दिया। अन्त में किसी के याद दिलाने पर राम ने हनुमान को भी अपने सम्मुख बुलाया और कहा—हनुमान ! तुम क्या चाहते हो ? हनुमान ने विनम्र भाव से उत्तर दिया—मैं चाहता हूँ जैसे अब तक मै आपकी सेवा करता रहा भविष्य मे भी वैसे करता रहूँ। राम ने कहा—मैं और सब कुछ दे सकता हूँ पर यह नहीं दे सकता, क्योंकि तुम जो चाहते हो वह तभी सम्भव हो सकता है, जब मुझे पुनः वनवास मिले और कोई दूसरा रावण सीता का अपहरण करे और तुम मुझे सेवा दो, यह मैं कैसे चाह सकता हूँ ? हनुमान चुप होकर अपने आसन पर जा बैठे।" इस मनोरंजक उदाहरण से विचारकों के लिए एक नया चिन्तन-मार्ग खुल जाता है। समाज में अब तक यह बद्धमूल संस्कार रहा है—सबकी सेवा करो। यही कारण है लोग उत्पन्न कष्टों को मिटाने का ही प्रयत्न करते है। उन कष्टों के मूल को मिटाने का प्रयत्न नहीं करते। देश में भिखमंगे अधिक हो जाते है, लोग कहते हैं उन्हें दान करो। उनका दुख दूर होगा, पर परिणाम यह होता है कि उन्हें आजीवन के लिए भिखमंगा बना दिया जाता है और दान देकर उनकी बढ़ोतरी की जाती है। लोग यह नहीं सोचते आखिर गरीबी का कारण शोषण व संग्रह है। यदि हम इन कारणों को मिटा देंगे तो समाज में न भिखमंगी रहेगी और न दानवीरता। राम और हनुमान के उदाहरण

से यह स्पष्ट हो जाता है, सेवा चाहने वाला अव्यक्त रूप से व्यक्ति और समाज की कष्ट परम्परा को चाह लेता है।

'चक्कवत्ती सींहनादसुत्त' नामक बौद्ध ग्रन्थ में लिखा है—दृढ़नेमि चक्रवर्ती की परम्परा में सात चक्रवर्तियों ने अहिंसा, सत्य आदि पंचशीलों का प्रचार चालू रखा इसलिए उनके राज्य में गरीबी व गरीबी से पैदा होने वाले और दुर्गुण जनता में नहीं आये। आठवें चक्रवर्ती ने पंचशील का प्रचार छोड़ दिया। परिणामस्वरूप लोग संग्रह-प्रिय हो गये। जो संग्रह-कुशल नहीं थे उन लोगों में दारिद्रय छा गया। दारिद्रय के कारण लोग चोरी करने लगे। पहला चोर जब पकड़कर राजदरबार में लाया गया तो राजा ने उससे पूछा—तुम चोरी किसलिए करते हो? चोर ने उत्तर दिया—धनाभाव के कष्ट से। राजा उदार था, उसने उस चोर को यथोचित धन दिया और कहा भविष्य में चोरी न करना। नगर में यह चर्चा फैल गई कि जो चोरी करता है उसे राजा धन देता है। थोड़े ही दिनों में सहस्रों लोग चोरी करने लगे। राजा का कोष खाली हो गया और शहर में अव्यवस्था फैल गई। तब राजा ने पुनः पंचशील का प्रचार आरम्भ किया और शनैः शनैः उस अव्यवस्था को मिटाने में सफल हुआ। आज की समाज-व्यवस्था में भी यह चिन्तन उभर आया है कि दान करो, सेवा करो आदि उद्घोषों से समाज आधि मुक्त और व्याधिमुक्त नहीं होगा। 'नवीन समाज-व्यवस्था में दान और दया' नामक प्रस्तुत पुस्तक में इसी विषय पर सुविस्तृत विवेचन किया गया है। समाज के नये निर्माण और बदलते हुए मूल्यों में विचारक समाज इस ओर चिन्तन के लिए प्रेरित होगा ऐसी आशा है।

सम्वत् २०१४, कार्तिक शुक्ला ८
नया बाज़ार, दिल्ली।

—मुनि नगराज

नवीन समाज-व्यवस्था में दान और दया

आरम्भ और हेतु

मनुष्यकी जीवन-व्यवस्था जबसे व्यष्टि रूपसे समष्टि रूपमें परिवर्तित हुई तबसे ही दान-प्रथाका उदय हुआ; ऐसा लगता है। समष्टि जीवनमें आकर मनुष्यने घर बनाये, गांव व नगरोंकी रचना की, पंच-पंचायत और राज्य-व्यवस्थाका निर्माण किया। उन्हीं दिनों पारिवारिकता और सामाजिकताको भी उसने जन्म दिया। समष्टि-जीवनकी उस परिकल्पनामें जो अधूरापन रहा वह यह था कि अनाथ, अकर्मण्य, अपांग व्यक्तियोंके जीवन-यापनकी कोई समुचित व्यवस्था नहीं थी। तथाप्रकारके - व्यक्तियोंकी बढ़ोतरी सामाजिक व्यवस्थापकोंके सामने समस्या होकर आई। उसका जो तात्कालिक समाधान सोचा गया वह यह था कि धनी और ऐश्वर्यशील व्यक्ति उन गरीबों के लिए कुछ दान करें। किन्तु संग्रह करना जिनके जीवनका ध्येय था उन धनियों द्वारा दानका स्वीकरण कठिन ही नहीं असम्भवके लगभग था। लगता है समाजके कर्णधारोंने उन्हीं परिस्थितियोंमें दानको धर्मका अंग बताकर और दानियोंको स्वर्गीय सिंहासनका प्रलोभन दिखलाकर उनकी थैलियों के मुँह दीन अनाथोंके लिए खुलवाये। इस प्रकार दान-धर्मका जन्म हुआ।

यह केवल कल्पनाकी ही बात नहीं अन्य बहुत सारी सामाजिक जीवनकी समस्याओंको भी हल करनेका यही मार्ग अपनाया जाता था; क्योंकि धर्मपर व्यक्तिकी बुद्धि केन्द्रित थी। अतः जो उससे करवाना हो वह धर्मके नामपर ही सहज सम्भव हो सकता था। यही तो कारण

था कि हिन्दूधर्ममें जन्मसे लेकर मृत्यु तकके समस्त संस्कारों व क्रिया-काण्डोंपर धर्मकी छाप लगा दी गई। रहन-सहन व वेशभूषा जैसे सामान्य व्यवहार भी धर्मके विशेष अंग बना दिये गये। अर्थात् निरूपकोंको जो रहन-सहन, वेशभूषा वं अन्य संस्कार पसन्द थे वैसे ही लोग चलें, इसलिए उन्होंने जनताकी निष्ठा इस ओर केन्द्रित करनेके लिए उन सबका सम्बन्ध धर्मसे जोड़ दिया। धनी और ऐश्वर्यशीलोंके लिए यह अत्यन्त आनन्द और उल्लास का विषय हुआ कि वे अपने कौशल व अनीतिमय आचरणोंसे धन-संग्रह कर लौकिक व्यवस्थाके सर्वेसर्वा बने रहें, भौतिक सुख-सुविधाओंका आनन्द लेते रहें और उसी धन से थोड़ा-सा दान कर लोकोत्तर व्यवस्थाके भी अधिनेता बनें। यह प्रश्न सम्भवतः तात्कालिक विचारकोंके मस्तिष्कमें नहीं आया होगा कि वेचारे गरीबोंकी कष्ट-मुक्ति आखिर किस लोकमें होगी; क्योंकि उनके पास धन नहीं है तो लौकिक और लोकोत्तर सुखको वे कैसे खरीद सकेंगे? किन्तु कुछ भी हो प्रथा चली और चलती रही। समाजमें भिखमंगी बढ़ने लगी; क्योंकि धनियोंने अपनी थैलियोंके मुख लोकोत्तर सुखकी व्यवस्था में खोल रखे थे। सहस्रों वर्षोंके इतिहासमें तथा प्रकारकी दान-व्यवस्था के विरोधमें कोई क्रान्ति नहीं उठी; क्योंकि दोनों ही वर्गोंके स्वार्थोंका वहाँ पूर्ण समझौता था। निम्नवर्ग तथा प्रकारके दानग्रहणमें अपनी लौकिक सद्‌गति मान रहा था और धनी वर्ग अपने लोकोत्तर अभियान के सफल होनेका विश्वास कर रहा था।

दान से अधिकार

युग बदला, स्थितियाँ बदलीं। मानवके सहस्राब्दियोंसे सुषुप्त मानसमें चेतना उद्दीप्त हुई और वह जीवनके प्रत्येक पहलूको एक शल्य चिकित्साकी विधिसे देखने लगा। परिणामस्वरूप राजनीतिक व सामाजिक क्षेत्रमें नाना प्रकारके मानदण्ड स्थापित हुए। ऐसी स्थितिमें उस

मानवकी तीक्ष्ण निगाहोंसे दान भी शल्य चिकित्साकी मेजपर आये विना कैसे रुक सकता था ? यह आजका युग है जिसमें सहस्राब्दियोंसे पद-दलित मानवताने स्वाभिमानकी सांस ली है। आजका गरीव, याचक और शोषित दान नहीं चाहता वह अपने अधिकारोंको पानेके लिए कटिवद्ध है। उसका अभिमत है—कोटि-कोटि गरीव जनताका मनमाना शोषण कर आज जो उसे जूठी रोटीका एक वचा टुकड़ा देकर सन्तोष कराया जाता है; वह ऐसे दान-धर्मको नहीं चाहता। सही वात तो यह है कि एक ओर शोषण चल रहा है और दूसरी ओर दान। यह तो इस कहावतको चरितार्थ करनेवाली वात है—

एरण की चोरी करी दियो सूइको दान।
ऊँचो चढ़कर देखण लागी कितोक दूर विमान॥

सुनारकी पड़ोसिनने आँख वचाकर रातको उसका एरण उठा लिया और सुवह होते ही किसी राह चलते भिखमंगे को एक सुईका दान कर ऊपर देखने लगी कि मेरे दान-पुण्यके प्रभावसे अवश्य कोई स्वर्गका विमान मुझे ले चलनेके लिये आयेगा। अस्तु, इसलिये वह चाहता है कि दान करनेकी मनोवृत्तिको छोड़कर शोषण न करने की ही मनोवृत्तिको अपनाया जाय। इससे समाजमें ऐसी व्यवस्थाका सूत्र-पात होगा जिसमें दानी और याचक दूसरे शब्दोंमें 'अहं' और 'हीनता' का कोई स्थान ही न रहेगा।

सर्वोदय के क्षेत्र में

भारतवर्ष एक आध्यात्मिकता प्रधान देश है और आज वह एक नई समाज-व्यवस्था की सीढ़ियों पर अग्रसर हो रहा है। ऐसी स्थितिमें ऋषि-महर्षियोंके प्राचीन सन्देशों व आजकी नवीनतम विचारधाराओंके विकास सम्बन्धी इतिहासको हृदयंगम करते हुए अन्यान्य पहलुओं की तरह दान-प्रथापर भी एक तटस्थ निगाह से विचार कर लेना परम

आवश्यक प्रतीत होता है। ऐसे तो समाज-प्रणेताओंने समय-समय पर इस-सम्बन्धमें बहुत सारे विचार दिये हैं। महात्मा गांधी कहते हैं—"बिना[1] प्रामाणिक परिश्रमके किसी भी चंगे मनुष्यको मुफ्तमें खाना देना मेरी अहिंसा बर्दाश्त नहीं कर सकती। अगर मेरा बस चले तो जहाँ मुफ्त खाना मिलता है ऐसा प्रत्येक 'सदाव्रत' या 'अन्नछत्र' मैं बन्द करा दूँ।"

जीवन व्यवहारमें सर्वोदयका विचार करते हुए सुप्रसिद्ध सर्वोदयी लेखक श्री भगवानदास केला लिखते हैं[2]—"कुछ आदमी सोचते हैं कि हमें अपने कामसे इतनी अधिक आय होनी चाहिए कि हम दान-धर्म, तीर्थयात्रा आदि अच्छी तरह कर सकें। समय-समय पर ब्राह्मण-भोजन व जातीय-भोज कराकर उसका पुण्य ले सकें। यह समझ ठीक नहीं। अनुचित कार्य कर धन कमाना और उस धनसे कुछ पुण्य प्राप्त करनेकी कोशिश करना वैसा ही है जैसा कीचड़में पाँव रखकर पीछे उसे धोने की कोशिश करना। सात्विक ईमानदारी या मेहनत का काम करनेवालोंको दान-पुण्य आदिकी चिन्ता में नहीं पड़ना चाहिए। उसका काम ही यज्ञ रूप है।"

इस प्रकार जहाँ भी नई समाज-व्यवस्थाका चिन्तन होता है लगभग सभी एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। लोकतन्त्रके प्रशस्त व्याख्याता प्रो० आर० आर० कुमरिया 'साइकोलोजिकल फाउन्डेशन ऑफ दी स्टेट' में 'समाजसेवा और दान' शीर्षकमें लिखते हैं[3]—

---

१. सर्वोदय दिसम्बर सन् ३८ तथा गांधीवाणी पृष्ठ १५३।

२. सर्वोदय दैनिक जीवन में, पृष्ठ ४०।

3 Charity does not destroy suffering, it only gives a bit of relief to a person who is suffering. Under democratic social welfare schemes our object is to destroy suffering through a collective effort. Because the happiness of one and all is aimed at the effort of one and all is required

"दान कष्टोंका नाश नहीं करता। वह दुःखीको एक क्षणिक सन्तोष देता है। जनतान्त्रिक समाजके निर्माणमें हमें सामूहिक प्रयत्नों द्वारा कष्टोंका समूल अन्त करना है; क्योंकि यहाँ सबका सुख अभीष्ट है। इसलिए सबका प्रयत्न भी अपेक्षित है। सब लोगों के सुख-निर्माणमें सब लोगोंने भाग लिया; अतः कोई किसीका अहसानमन्द नहीं है। इस प्रकार मानवका व्यक्तित्व सुरक्षित है। मानवता की कीमत उस समाज में सुरक्षित नहीं रह सकती जिस समाज में दान (Charity) अनुकम्पा (Compassion) और दया (Kindness) का ऊँचा मूल्य माना गया है। मानवता केवल उस समाजमें सुरक्षित रह सकती है जहाँ मनुष्यकी इच्छाओंकी वृद्धि सामूहिक और सहयौगिक प्रयत्नों द्वारा ही होती है। सहयोग ही ऐसे समाजका आधार है और उस जनतांत्रिक समाजमें यही सर्वोत्कृष्ट गुण है।"

ऐसा लगता है आजके युगमें तथा प्रकारकी दानप्रथाकी अनुपयोगिताके विषयमें कोई भी विचारक दो मत नहीं होंगे; क्योंकि आज स्वाभिमानी राष्ट्र वही माना जा सकता है जो इस बातका गौरव रखता हो कि हमारे देशमें भिखमंगे और भिखमंगी नहीं हैं, न कि वह जिसमें सत्तर लाख भिखमंगे हैं और लोगोंकी दानवीरताके कारण उनकी आजीविका चलती है। इसीका परिणाम है कि आज भारतवर्षकी प्रान्तीय शासन व्यवस्थाओंमें स्थान-स्थानपर भिक्षा-निरोधक बिल आ

---

to achieve it. And because everybody has contributed towards its achievement, nobody is under the obligation of anybody and thus, the human dignity is mainiatned. Human dignity cannot be maintained in a society in which charity, compassion and kindness are prize values. It can be maintained only in a society in which satisfaction of human wants is achieved through co-operative and collective effort. Co-operativeness is the hub of such a society. It is the highest virtue.

रहे हैं और सभी सरकारें तथा प्रकारकी भावनाओंको चरितार्थरूप देनेमें प्रयत्नशील हैं।

शास्त्रकारों की दृष्टि में

प्रश्न केवल यही रह जाता है; गरीब, अनाथ, अपांगोंको प्रचलित प्रथासे कुछ दे देने की पद्धति न भी रहे किन्तु सामूहिक सेवाभाव से, वैयक्तिक प्रयत्नोंसे या किसी संस्था आदि द्वारा बहुजन संचालित प्रयत्नों से जो कार्य भारतीय संस्कृतिमें हमेशासे हो रहा है और प्रस्तुत युगमें भी यथा साध्य जिसे बढ़ावा मिल रहा है क्या उसकी भी कोई उपयोगिता नवीन समाज-व्यवस्था में नहीं रहेगी ? प्रश्न गम्भीर है; क्योंकि एक ओर ऐसी समाज-रचनाका कार्य सामने है जिसमें बहुत सारे मानदण्ड आमूल परिवर्तन की अपेक्षा रखते हैं और एक ओर उन संस्कारों का जन-जनके मस्तिष्क पर जमघट है जिनपर सहस्राब्दियोंसे धर्म, पुण्य व मोक्षकी छाप लगाई जा रही है। किन्तु स्थिति यह है कि बहुत सारे कार्य समाजमें ऐसे प्रचलित हैं जिनपर प्रणेताओं ने धर्म व पुण्यकी छाप नहीं लगाई थी, किसी एक मर्यादामें तथा प्रकारके कार्योंमें धर्म व पुण्यके होनेका निरूपण किया था। किन्तु वे ही कार्य जनताके अन्धविश्वासोंके कारण रूढ़ियोंमें परिणत होकर विकृत रूप ले रहे हैं। जैसे दानका ही प्रसंग है जहाँ तक शास्त्रकारोंका सम्बन्ध है उन्होंने तो कहा—[1]सत्पात्रको दान करनेवाले भी थोड़े और सत्पात्रता के आधार पर जीनेवाले भी थोड़े हैं। इसलिए सत्पात्रको दान देनेवाले और सत्पात्रसे लेनेवाले दोनों सद्‌गतिको प्राप्त होते हैं। गीताकार दानमात्र को सात्विक, राजसिक और तामसिक इन तीन भेदोंमें विभक्त करते हैं— "दान वह है जो दिया जाता है और सात्विक दान वह है जो देश, काल

१—दुल्लहा उ मुहादाई मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी दो वि गच्छन्ति सोग्गइं॥ द० अ० ५। १००

और पात्रके विवेकसे अनुपकारी व्यक्तिको दिया जाता है। जो प्रत्युपकार की दृष्टिसे फल आकांक्षाके लिए व परिक्लिष्ट वृत्तिसे दिया जाता है वह राजसिक दान है और जो देश, काल व पात्रका विवेक किये बिना अर्थात् असद्देश, असत्काल और असत्पात्र को दिया जाता है वह तामसिक दान कहा जाता है[1]।" उक्त तीन दानोंमें मोक्षका हेतु व धर्म, पुण्यका हेतु कहा जानेवाला दान केवल सात्विक दान है। यहाँ अब यह देखना है कि आज समाजमें जो दानका ढर्रा चल रहा है उसमें सात्विक दान कहाँ तक है और राजसिक तथा तामसिक कहाँ तक? जहाँ दानी के लिए बताया गया है, फल या प्रत्युपकारकी भावनासे दान न करें वहाँ आजके दानी इन्हीं दो तत्त्वोंको दानका उद्देश्य बना बैठे हैं।

आज के दानवीर

आजका दान यश और कामना के विषैले कीटाणुओं से बुरी तरह आक्रान्त है। आजका दानी किसी भी सार्वजनिक संस्थाको दान करते समय या तो शर्त ही कर लेता है या अभिप्राय समझ लेना चाहता है कि मेरा वहाँ फोटो लगेगा या मेरा शिलालेखमें नाम खुदेगा या नहीं। सेवा कार्य करनेवाली ऐसी बिरली ही संस्था मिलेगी जिसके साथ संचालकने अपना नाम न जोड़ दिया हो। आज जहाँ लोग भगवान् का मन्दिर बनवाते हैं वहाँ भगवान् गौण हो जाते हैं और मन्दिर के परिचयमें बनाने वालेकी जाति व नाम जुड़ जाता है। नामोल्लेखके उक्त

१—दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दान सात्विकं स्मृतम् ॥२०॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥ गीता अ० १७

प्रकारके उपक्रमोंमें साधारण से साधारण व्यक्ति भी यह समझ सकता है कि नाम-संयोजनके पीछे कोई भी आवश्यकता या महत्त्वपूर्ण आदर्श नहीं है। फिर भी यही तत्त्व आजके दानका अनन्य हेतु बन रहा है।

आजके दानमें विवशता भी एक हेतु बन जाती है। बहुत सारे लोग दान देना चाहते नहीं किन्तु उत्साही लोग कोई चन्देकी योजना खड़ी कर देते हैं और कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियोंको साथ लेकर सामने आ बैठते हैं, तब उन्हें दो-चार बार टालमटोल करनेके बाद कुछ लिखना ही पड़ता है। पिछले दिनों कुछ व्यक्ति मिले जो बता रहे थे कि अमुक-अमुक गणमान्य व्यक्ति भूदानके सिलसिलेमें पद-यात्रा करते हुए जब हमारे शहर आये तो सब लोगोंकी तरह हमें भी कुछ भूमि उन्हें दे देनी पड़ी। किन्तु अब हम इस खोजमें हैं कि कोई दूसरी सस्ती भूमि मोल मिल जाय तो वह देकर हम अपना कौल पूरा कर देंगे, क्योंकि हमारी भूमि अधिक उपजाऊ है और उसकी अधिक कीमत है। अस्तु; यहाँ कोई भूमिदान व उसके कार्यकर्ताओंकी समालोचना नहीं है पर यहाँ तो आजके दानियोंके मानसकी स्थितिका एक चित्रण है।

आज के दानपात्र

शास्त्रकारोंने पात्र को देखकर याने सुपात्रको दान करनेकी जहाँ बात कही वहाँ उन्होंने सुपात्रके लक्षण बतलाये[1]—जैसे मधुकर फूलोंसे थोड़ा-थोड़ा रस लेकर सन्तोष करता है उसी प्रकार ज्ञानी और जितेन्द्रिय मुमुक्षु मधुकरी वृत्तिसे अपने संयमपूर्ण जीवन-निर्वाहके लिए भिक्षा-ग्रहण करते हैं। आजके दान-पात्र उक्त सत्पात्रताकी मर्यादामें कहाँ तक आते हैं यह आलोचना का विषय है; क्योंकि भिखमंगी आज एक पेशा बन गया है। सहस्रों हट्ठे-कट्ठे लोग कैसे इस काममें निपुणता प्राप्त

१—जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आवियई रसं।
न य पुप्फं किलामेइ सो य पीणेइ अप्पयं ॥२॥

कर समाजमें अकर्मण्यता व बेकारी फैला रहे हैं इसका भी एक हृदय-द्रावी इतिहास बनता है। यहाँ तक कि पेशेवर भिखमंगे स्वस्थ बालकों को विकृतांग कर उनसे अपनी भिखमंगीका व्यवसाय चलवाते हैं। ऐसे अनेकों उदाहरण प्रत्यक्ष अनुभव में आये हैं।

विगत वर्षकी घटना है; देहलीमें जब हम थे उसी समय एक जैन तेरापन्थी दम्पती लगभग १०-१२ वर्षके एक बालकको साथ लिए दर्शनार्थ आये। उन्होंने बताया कि यह लड़का गेरुक वस्त्रधारी भिख-मंगोंके चंगुलमें था। यह बड़ा दुःखी था। कल हम लोगों ने इसे वहाँ से निकाला। पूछे जानेपर उस बालक ने हमें अपना जीवन-वृत्तान्त बताया। उसने कहा—"मैं दक्षिण में बंगलोरके पास किसी एक ग्राममें रहनेवाले मिल-मजदूर का बालक हूँ। एक दिन जब मैं घरसे घूमनेके लिए निकला था तब कुछ गेरुक वस्त्रधारी बाबा लोग मुझे मिले और मुझे मिठाई फल आदि खिलाये। फिर वे मुझे अपने साथ चलनेका आग्रह करने लगे और कहा—'तुम्हें दिल्ली ले चलेंगे और वहाँ सिनेमा व और भी बहुत सारी चीजें दिखलायेंगे। वापस यहाँ लाकर छोड़ देंगे'। मैं उनके भुलावे में आ गया। मैं बहुत दिनों तक उनके साथ भटकता रहा। गेरुक वस्त्र पहना कर वे भी मुझे अपने साथ रखते और भीख माँगनेका तरीका सिखलाते। एक दिन एक सुनसान स्थानमें उन्होंने जबरदस्ती मेरी जीभमें लोहेका बड़ा काँटा आरपार कर दिया। इससे मैं तीन दिन तक बेहोश-सा पड़ा रहा। बुखार भी हुआ था। उसके बाद जीभमें वह छेद स्थायीरूपसे बन गया और ऊपरकी व्याधि धीरे-धीरे मिट चली। उसके बाद शहरमें जाते समय मेरी जीभके उस

एमेए समणा मुत्ता जे लोए सन्ति साहुणो।
विहंगमा व पुप्फेसु दानभत्तेसणे रया ॥३॥
महुकारसमा बुद्धा जे भवन्ति अणिस्सिया।
नाणापिण्डरया दन्ता तेण वुच्चन्ति साहुणो ॥५॥ दश०-अ० १

छेदमें एक छोटा त्रिशूल लटका देते और जीभ बाहर रखवाकर दयावनी शक्लमें मुझसे भिखमंगी करवाते। मैं भी वैसा ही करने लगा। दिन में जितने पैसे इकट्ठा करता सायं उनके सामने रख देता। वे हमेशा यही कहते कल इससे और अधिक लाना। देहलीमें ऐसा करते कुछ समय बीता पर मैं आये दिन अधिक से अधिक पैसा नहीं ला सकता था। तब वे लोग मुझ पर बहुत बिगड़ते। कभी वे ज्यादा पैसे लाने के लिए सिनेमा दिखलाने का लालच देते और कभी मार-पीट करने की धमकी भी। एक दिन जब उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि तू बड़ा हराम है। जान-बूझकर पूरी मेहनत नहीं करता। कल यदि इतने पैसे नहीं लायेगा तो हम लोग तुझे किसी कुएँमें डाल देंगे। मैं उससे एकदम घबरा गया व दूसरे दिन जब हमारी टोली माँगनेके लिए चाँदनी चौक से निकली मैं आँख बचाकर मालीवाड़ेकी ओर निकल पड़ा। मैं इस स्थितिमें था कि किसे कहूँ और क्या कहूँ? आखिर मुझे यही सूझा कि मुहल्लेके बीचमें जैसे मैं शरीर पर मोरकी पाँखें लगाये, जीभपर त्रिशूल पिरोये, गेरुक वस्त्र पहने, भिखमंगी कर रहा था उसी वेशमें मैंने जोर-जोरसे चिल्लाना शुरू किया—"अरे मुझे कोई बचाओ, मुझे कोई बचाओ, मैं मारा जाऊँगा।' कुछ आदमी इकट्ठे हुए। उनमेंसे ये लोग (साथ लानेवाले तेरापंथी दम्पतीकी ओर संकेत कर) मुझे अपने घरमें ले गये और मेरी सारी जीवन-घटना इन्होंने सुनी। इसके पश्चात् इन्होंने मेरा भिखमंगी का चोगा हटवाकर अच्छे कपड़े पहना और अपने बच्चेकी तरह मुझे खिलाया।" उपस्थित बहुत सारे लोगोंने देखा उसकी जीभमें एक बड़ा छेद था।

इसी प्रकार एक अठारह वर्षीय युवक गुम होने के बारह महीने बाद अपने घर आया। उसने भी बताया—"जब मैं बंगाल में अपने निवासस्थलसे किसी दूसरे गाँवकी ओर जा रहा था उसी समय दो-चार आदमी मुझसे मिले और कहने लगे हमें भी वहीं जाना है जहाँ तुम जा रहे हो। मैं उनके साथ-साथ चलने लगा। 'यह रास्ता सीधा है' कहकर

वे मुझे एक घने जंगलमें ले गये। वहाँ गुफामें एक बाबा रहते थे उन्हें ले जाकर मुझे सौंपा। उन लोगों को बाबाने ५००) रुपये दिए और वे चले गए। बाबा आठ प्रहर चौंसठ घड़ी कड़ी निगाहसे मेरी निगरानी रखते। मुझे निकलनेका कोई मौका नहीं मिला। मैं बाबाकी बहुत सेवा करने लगा। धीरे-धीरे मुझे पता चला कि बाबा किसी देवीकी साधना कर रहे हैं और बलि के लिए मुझे यहाँ लाया गया है। मैं यह जानकर मनमें बहुत घबराया पर ऊपरसे बाबाको यह विश्वास हो गया कि मेरे साथ यह घुलमिल गया है तथा मेरा पक्का चेला बन गया है। एक दिन वे गुफा छोड़कर मथुराकी ओर जानेवाले थे। तीन सौ रुपये उन्होंने मुझे दिए और कहा—"आरामसे रहना मैं कुछ दिनों बाद आजाऊँगा।" बाबा चले गए तो एक-दो दिनों के बाद मैंने भी वहाँसे अपना रास्ता लिया।"

कौन नहीं जानता इस भयंकर भिखमंगीका मूल कहाँ है? भिखमंगीके व्यवसायने भी नाना रूप ले लिये हैं। कुछ भिखमंगे ऐसे हैं जो साधु-संन्यासीके पवित्र वेशमें अपनी पूजनीयता या दया-पात्रता दिखलाकर पेट भरा करते हैं। साधूचित साधनासे उनका कोई सरोकार नहीं। कुछ भिखमंगे वास्तवमें बड़े धनी होते हैं। ये पैसे जोड़ते जाते हैं। किन्तु उस जुटी धनराशिसे एक पैसा भी अपनी सुख-सुविधा के लिए वे खर्च नहीं करते। देखने में वे अत्यन्त दरिद्र, असहाय लगते हैं किन्तु मरनेके पश्चात् उनके फटे चिथड़ोंसे हजारों रुपये तककी धन-राशि निकलती है। कुछ अंगोपाङ्गसे पूर्ण स्वस्थ होते हुए भी केवल भिखमंगीके लिए ऐसा दिखावा बनाते हैं कि सचमुच ही ये रोगी, अन्धे या बहरे हैं। अस्तु; नई समाज-व्यवस्था यह कभी क्षम्य नहीं मान सकती कि धर्म या पुण्यके नामपर इस प्रकार अयोग्य दान-पात्रों की फौज बढ़कर देशके लिए अभिशाप बनती रहे।

त्याग और दान

जहाँ हम दानके आध्यात्मिक चिन्तनमें उतरते हैं वहाँ दानका महत्त्व मिलता है किन्तु वह दान कैसा हो यही समझ लेना सर्वसाधारणने भुला दिया है। तत्त्वचिन्तक आज भी उसी गहराईमें बैठते हैं। आचार्य विनोवाभावे "त्याग और दान" शीर्षक लेखमें लिखते हैं[1]—"एक आदमीने भलेपनसे पैसा कमाया है। उसे द्रव्यका लोभ है फिर भी नामका कहिये या परोपकार का कहिये खासा ख्याल है। उसे ऐसा विश्वास है कि दान धर्मके लिए—इसीमें देशको भी ले लीजिये खर्च किया हुआ धन व्याज समेत वापस मिल जाता है। इसलिए वह इस काममें खुले हाथों खर्च करता है। एक दूसरे आदमीने इसी तरह सच्चाई-से पैसा कमाया था लेकिन इसमें उसे सन्तोष नहीं होता था। उसने एकवार वागके लिए कुआँ खुदवाया। कुआँ वहुत गहरा था। कुआँ जितना गहरा था इससे निकली चीजों (मिट्टी, पत्थर) का ढेर भी उतना ही ऊँचा चला गया। वह सोचने लगा कि मेरी—तिजौरीमें भी पैसेका एक ऐसा ही टीला लगा हुआ है। उसी अनुपातसे किसी जगह कोई गड्ढा तो नहीं पड़ गया है? इस विचारने उस पर अपना प्रभुत्व जमा लिया कि व्यापारिक सच्चाईकी रक्षा मैंने भले ही की हो फिर भी इस वालू की वुनियाद पर मेरा मकान कव तक टिक सकेगा? अन्तमें पत्थर, मिट्टी, और माणिक, मोतियोंमें उसे कोई फर्क दिखाई न दिया। यह सोचकर कि फिजूल का कूड़ा-कचरा भर कर रखने से क्या लाभ? उसने अपना सारा धन गंगामें वहा दिया। इससे कोई-कोई पूछते हैं "दान ही क्यों न कर दिया"? वह जवाव देता है—दान करते समय पात्र को देखना पड़ता है। अपात्रको देनेसे धर्मके वदले अधर्म होनेका डर जो रहता है। मुझे अनायास गंगाका पात्र मिल गया। उसमें मैंने दान कर

---

१. 'विनोवाके विचार' संस्करण चौथा पृष्ठ ४-६।

दिया। इससे भी संक्षेपमें वह इतना ही कहता है "कूड़े-कचरेका भी कहीं दान किया जाता है"। उसका अन्तिम उत्तर है "मौन"। इस तरह उसके सम्पत्ति-त्यागसे सब सगोंने उसका परित्याग कर दिया। पहली मिसाल दानकी है दूसरी त्यागकी। आजके जमानेमें पहली मिसाल जिस तरह दिल पर जमती है उस तरह दूसरी नहीं। लेकिन यह हमारी कमजोरी है।

त्याग और दान के इसी विचारको विनोबा एक दिलचस्प उदाहरणसे और भी स्पष्ट कर देते हैं[1]—पुराने जमानेमें आदमी और घोड़ा अलग-अलग रहते थे। कोई किसीके अधीन न था। एक बार आदमीको कोई जल्दीका काम आ पड़ा। उसने थोड़ी देरके लिए घोड़ेसे उसकी पीठ किराये पर माँगी। घोड़ेने भी पड़ोसीके धर्मको सोचकर आदमीका कहना स्वीकार कर लिया। आदमीने कहा—तेरी पीठपर मैं यों नहीं बैठ सकता। तू लगाम लगाने दे तभी मैं बैठ सकूँगा। लगाम लगाकर मनुष्य उसपर सवार होगया और घोड़ेने भी थोड़े समयमें उसका काम बजा दिया। अब करारके माफ़िक घोड़ेकी पीठ खाली करनी चाहिए थी; पर आदमीसे लोभ न छूटता था। वह कहता है—"हाँ तुमने मेरी खिदमतकी है (और आगे भी करेगा) इसे मैं कभी नहीं भूलूँगा। तेरे लिए घुड़साल बनाऊँगा, तुझे दाना, घास दूँगा, पानी पिलाऊँगा, खरहरा करूँगा, जो कहेगा, वह करूँगा; पर छोड़नेकी बात मुझसे न कहना। घोड़ा त्याग चाहता था; आदमी दानकी बातें कर रहा था—भले आदमी कमसे कम अपना करार तो पूरा होने दे।"

सच बात तो यह है कि शास्त्रकारोंने आध्यात्मिक दान पर ही बल दिया है जो देश, काल और पात्रकी सीमामें मर्यादित है। और उन्होंने तो समय-समय पर तथा प्रकारके दानोंको चुनौती भी दी है। भगवान् श्री महावीर कहते हैं—"जो असंयमी, अव्रती व्यक्तिको भोजन, पानी

१—'विनोबाके विचार' संस्करण चौथा पृष्ठ ४-६।

आदि कुछ दान किया जाता है वह एकान्त पाप कर्म है और पाप मुक्तिका मार्ग नहीं है[1]।"

समाज-व्यवस्थामें माँगकर खाना या तथा प्रकारके अकर्मण्य व्यक्तियों को किसी भी लालचसे खिलाना समाज-शास्त्रके नियमोंमें नहीं आसकता। प्राचीन कालमें भी धर्म और आध्यात्मिकता-प्रधान भारतवर्षमें केवल ऋषि-मुनि व संन्यासरत आत्माओंको भिक्षाजीवी होनेकी उपादेयता रही और उन्हें ही यथाविधि दान करनेका महत्पुण्य गाया गया है। समाजमें रहनेवाले व्यक्तिके लिए भिक्षा-जीवी होना स्वयं एक पाप है। इसी विचारको आचार्य विनोबाभावे अपने शब्दोंमें लिखते हैं[2]—"दुनियांमें विना शारीरिक श्रमके भिक्षा माँगनेका अधिकार केवल सच्चे संन्यासीको है। सच्चे संन्यासीको—जो ईश्वर-भक्तिके रंगमें रंगा हुआ है। ऐसे संन्यासीको यह अधिकार है; क्योंकि ऊपरसे देखनेमें भले ही ऐसा मालूम पड़ता हो कि वह कुछ नहीं करता पर अनेक दूसरी बातोंसे वह समाजकी सेवा किया करता है। पर ऐसे संन्यासीको छोड़कर किसीको अकर्मण्य रहनेका अधिकार नहीं है।" इस प्रकार आध्यात्मिक दृष्टिमें भी समाज-शास्त्रके नियमसे प्रचलित दान-प्रथाका कोई महत्त्व नहीं रह जाता।

भूमिदान

देशमें आजकल भूमिदान, सम्पत्तिदान, आदि आन्दोलनोंकी सु-विस्तृत चर्चा है। इस प्रसंगमें हम उस ओर भी कुछ दृष्टिपात करें तो

१—समणोवासगस्स णं भन्ते। तहारूवं असंजयअविरयअपडिहयअपचक्खा-यपावकम्मे पासुएण वा अपासुएण वा एसणिज्जेण वा अणेसणिज्जेण वा असणपाण जावकिं कज्जइ? गोयमा! एगन्तसोसे पावेकम्मे कज्जइ नत्थिसे काइ निज्जरा कज्जइ।

(भगवती शतक ८ उद्देशा ६)

२—'विनोबाके विचार' पृ० ४९।

यह सर्वाङ्गीण विवेचन के लिए प्रासंगिक ही होगा। भूमिदान, सम्पत्ति-दान आदि प्रवृत्तियोंको लेकर आचार्य विनोबा भावे जनताके सामने समय-समयपर स्पष्टीकरण रखा करते हैं—"मेरा दान हीनता व गर्वको पोषण देनेवाला दान नहीं है वह तो अधिकार मात्रका संविभाजन है और उसके नीचे यह भूमि है कि भूमिदान और सम्पत्तिदान करनेवाला व्यक्ति कभी यह न सोचे कि मैं कुछ महान् हूँ और गरीब भाइयों पर कोई दया कर रहा हूँ ; क्योंकि भूमि हवा और पानीकी तरह सबकी है। हवाको मनुष्य इस मर्यादामें ही अपनी कह सकता है कि वह उसके श्वास के लिए आवश्यक है। पानी भी उतना ही उसका है जितना वह पी सकता है। इसी प्रकार भूमि भी देशकी औसतन मर्यादासे ही उसकी है। इससे अधिक उसका जो संग्रह है वह उसके सामर्थ्यका दुरुपयोग और सामाजिक न्यायका भंग है। अतः देनेवालेको यह सोचना चाहिए कि मैं अपने भाईको उसका संविभाग दे रहा हूँ।" यहाँ दानका वास्तविक अर्थ बँटवारा है जो चिर प्रचलित दानसे सर्वथा निरपेक्ष है।

शब्द और परिभाषाका बेमेल यहाँ भी अखरता है। सुस्पष्ट तो यह होता कि "भूमि संविभाग" शब्दका प्रयोग होता। लगता है दान शब्द-का व्यवहार करके यहाँ भी कुछ जनताके बद्धमूल संस्कारोंसे उद्देश्य सिद्धिकी बात सहज समझी गई है, क्योंकि सर्वसाधारण जितने दान शब्दसे चिमटे हैं उतने अधिकार या संविभाग शब्दसे नहीं। तथापि सुदूर भविष्यके लिए यह इतना श्रेयस्कर नहीं हुआ। यह तो इतिहासके इन्हीं उपक्रमोंकी पुनरावृत्ति हुई जिस समय लोगोंने सामयिक समस्याओं-को धर्म कहकर सुलझाया और जनता इन कार्योंको ऐसे पकड़ बैठी कि उनके विकृत परिणाम आज वरदान न होकर अभिशाप सिद्ध हो रहे हैं। आवश्यकता तो थी कि जब दान शब्दमें अहं व हीनताका भाव इस प्रकार भर गया है कि वह निकाले भी नहीं निकलता और जो दान शब्द प्रगतिशील युगमें बहुत कुछ हेय सिद्ध हो रहा है उससे जनताका बद्धमूल व्यामोह हटाकर शब्द और परिभाषा में स्पष्ट और एक रूप

कोई मार्ग-दर्शन दिया जाता। आशा है चिन्तनके क्षेत्रमें यह पुनरालोचन-का विषय होगा।

सेवा नहीं व्यवस्था

दान और दयाका घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरेसे पृथक् नहीं हो सकते। जहाँ दान है वहाँ उसके नीचे दयाकी भित्ति है। जहाँसे दया उद्भूत होती है वहींसे दानका आरम्भ है। किन्तु यह बात शास्त्रोक्त सत्पात्र दानके विषयमें लागू नहीं है, क्योंकि वहाँ सर्वारम्भ परित्यागी जितेन्द्रिय मुमुक्षु जो भिक्षा ग्रहण करते हैं वह दीन वृत्तिसे नहीं[1]। उसे मिलने और न मिलनेकी कोई परवाह नहीं होती। उसकी वृत्तिमें सिंह का-सा स्वाभिमान होता है। उसे जो भक्त-जन दान करते हैं, वह दान केवल कहने भरको ही है। वहाँ वह यह नहीं मानता कि मैं साधुको देकर उस पर कोई अनुग्रह कर रहा हूँ प्रत्युत् वह यह समझता है, अकिंचन तपस्वीने मेरे यहाँसे कुछ भिक्षा लेकर मुझे पूर्ण अनुगृहीत किया है। पर समाजमें प्रचलित दानके साथ तो दयाकी बात जुड़ी ही रहती है। वहाँ व्यक्ति या संस्थाको दान देकर व्यक्ति यह सोचनेका अवसर पाता है—"मैंने गरीब व असहायोंके लिए कुछ किया है।" अतः प्रस्तुत निबन्धमें दानकी विवक्षामें दया और दयाकी विवक्षामें दान सर्वत्र अन्तर्भूत है। वर्तमान युगमें जबसे यह एक सर्वसम्मत तथ्य बना कि दान और दयाके साथ जो अहं और हीनताका भाव जुड़ गया है, वह उस सारी अच्छाई को निगले जा रहा है तबसे दयाके स्थान पर सेवा शब्द आया। अर्थात् दान व दया करनेवाला यह न माने कि मैं किसी पर अनुग्रह कर रहा हूँ प्रत्युत् वह यह माने कि मैं सबका सेवक हूँ और सबकी सेवा कर रहा हूँ। फिर भी वर्तमानका व्यवहार तो यह बताता

१—अदीणो वित्तिमेसिज्जा, न विसीएज्जा पण्डिए।
अमुच्छिओ भोयणम्मि मायन्ने एसणारए॥ दशवै० ५।२।२६।

है कि दयाके स्थान पर सेवा शब्द तो समाजमें आया किन्तु सेवा शब्दके साथ जुड़ी आत्म-लाघवकी भावना यथार्थ रूपसे नहीं आई। सेवाके इस युगमें सहस्रों सार्वजनिक कार्यकर्ता निकल पड़े हैं और सहस्रों धनी समाज-हित के लिए अपना बहुत कुछ न्यौछावर करने लगे हैं। किन्तु लगता है सार्वजनिक सेवामें लगे व्यक्तियोंके हृदयमें सेवासे भी अधिक अपने-आपको लोकप्रिय बना लेनेकी निष्ठा है। लोकप्रियता जनतन्त्र-प्रणालीका वह मन्त्र है जो चुनावोंकी वेदी पर साधा जाने पर यश, अधिकार और सम्पत्ति आदि सब कुछ देता है। चरित्र, विद्वत्ता, शासन-कुशलता आदि योग्यताओंके मन्त्र उतने फलप्रद नहीं होते जितना लोकप्रियताका। समाजमें सेवाके लिए सेवा करनेवाले कितने व्यक्ति हैं और यश, अधिकारके विनिमयके लिए सेवाका तप अर्जित करनेवाले कितने ?

इसका तात्पर्य यह नहीं कि बहुत सारी संस्थाएँ और बहुत सारे कार्यकर्ता सेवाके लिये सेवा नहीं कर रहे हैं। भारतवर्ष में ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जो 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' के सिद्धान्तको ही अपने जीवनका महामन्त्र मानकर चलते हैं। जहाँ तक चालू समाज-व्यवस्थाका प्रश्न है वहाँ कोई भी विचारक दो मत नहीं होगा कि समाजमें तथा प्रकारके कार्यकर्ताओं एवं तथा प्रकारकी सेवा मूलक प्रवृत्तियोंकी कोई सामाजिक उपयोगिता नहीं है किन्तु प्रश्न है आज नवीन समाज व्यवस्थाका। जब नये सिरेसे एक नये समाजका निर्माण युगके नवीन चिन्तनके आधारपर हो रहा है वहाँ प्रत्येक नागरिक सेवा नहीं व्यवस्थाको चाहेगा। अब तक एक आधे राष्ट्रको छोड़कर प्रायः पूर्व व पश्चिमके सभी देशोंमें सेवाभावी दानियों, कार्यकर्ताओं, तथा संस्थाओंके योगदानसे पाठशालायें और विश्वविद्यालय, कुएँ तालाब, प्याऊ और बावड़ी, वाचनालय और पुस्तकालय (लायब्रेरीज) औषधालय और चिकित्सालय (हास्पीटल्स) सड़कें और फुटपाथें, सदाव्रत और अन्नछत्र आदि प्रवृत्तियाँ चलती हैं, पर इनसे देशकी किसी भी

समस्याका मौलिक हल नहीं निकलता। क्योंकि वे सारी व्यवस्थाएँ आवश्यकताकी दृष्टिसे न होकर दानियों व कार्यकर्ताओंके सेवाभावकी पूरक होती हैं। उदाहरणार्थ—एक गाँव है वहाँ एक धर्मशाला, एक पाठशाला व एक लायब्रेरी पर्याप्त है पर यदि वहाँ बहुत सारे सम्पन्न व्यक्ति व कार्यकर्ता रह रहे हैं तो वहाँ अनेकों धर्मशालाएँ, पाठशालाएँ आदि अवश्य हो जायँगी। यदि वही गाँव सामान्य कर्मकरों की बस्ती है व वहाँ ऐसे कार्यकर्ताओंकी कमी है जो दूसरे गाँवसे भी धन बटोरकर ला सकें तो उस गाँवमें पर्याप्त पाठशालाएँ आदि भी नहीं बन पाएँगी। इसका अर्थ होगा कि पड़ोसी दो गाँवोंमें दो प्रकारकी स्थितियाँ पैदा हो जायँगी। यही हाल एक ही देश व प्रान्तके विभिन्न भागोंमें होगा। प्रश्न हो सकता है क्या सेवाभावी लोग अपने आप अपने देश व प्रान्त में शिक्षा, पानी, चिकित्सा आदिके विषयमें एक सामान्य अनुपात नहीं बिठा लेंगे? यह असम्भव होगा क्योंकि वहाँ एक नियामकता नहीं है। एक सरकार अपने राज्यमें ऐसा अनुपात बिठा सकती है क्योंकि वहाँ एक व्यवस्था है। अभी तो स्थिति यह है कि पानी, स्वास्थ्य व शिक्षा आदि की व्यवस्थाका भार शासकवर्गने केवल सार्वजनिक संस्थाओं पर ही नहीं छोड़ रखा है वे स्वयं भी इस विषयमें अपने आपको उत्तरदायी समझते हैं और यथासम्भव उसमें हाथ बँटाते हैं। सेवाभावी संस्थाओं के आधार पर देशकी कैसी व्यवस्था बनती है यह तो तब पता चलता: जब शासक-समुदाय जीवनकी उन समस्याओंको केवल सेवाभावी संस्थाओं (राम भरोसे) पर छोड़ देता। अस्तु, सेवाभावी संस्थाओंकी उपयोगिता आजके युगमें यहीं तक मर्यादित है कि जब तक राज्य व्यवस्थायें जीवन-यापनकी उक्त आवश्यकताओंको पूर्ण करनेके लिए अपने आपको समर्थ न बना लें। आज हरएक राज्य व्यवस्थाने इन कार्योंको अपने पर लिया है पर वह उतना आर्थिक सामर्थ्य नहीं पा रही है। इसीलिये इस नई व्यवस्था व प्राचीन व्यवस्थाके सन्धिकालमें सेवाभावी संस्थाओं तथा राजकीय उपक्रमोंका समझौता चल रहा है।

दूसरी बात यह है कि सेवा-भावनाका सारा सिद्धान्त ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधूरा है। जहाँ बच्चोंको जन्मसे ही यह सिखलाया जाता है और इसे ही समाजका नारा बना दिया जाता है कि दूसरोंका कष्ट दूर करो, गरीबोंको दान दो आदि-आदि वहाँ परोक्षतः समाजमें दुःख, दर्द और पीड़ा बनी रहे यह स्वीकार कर लिया जाता है; क्योंकि सेवा स्वयं इन्हीं पर आधारित है। गरीबी, रोग, पीड़ा आदि समाजमें न हों तो सेवाकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

सिद्धान्तकी पूर्णता वहाँ लगती है जहाँ 'सबकी सेवा करो' के बदले समाजका नारा हो 'किसीको कष्ट न दो' 'सबकी रक्षा करो' के बदले नारा हो 'किसीको मत मारो,' 'गरीबोंको दान दो' के बदले नारा हो 'संग्रह मत करो'। सामान्य दृष्टिमें इन सामुदायिक घोषोंमें कोई अन्तर नहीं लगता पर गहराईसे सोचनेसे वहाँ रात और दिनसा भेद समझमें आता है। पहले नारेमें रोगका इलाज है; दूसरेमें रोग पैदा ही न हो ऐसा बन्दोबस्त है। उदाहरणार्थ—'दान दो' इस घोषका समाज पर प्रभाव पड़ेगा; जो गरीब हैं उन्हें दान मिलता रहेगा पर उससे उन्हें एक क्षणिक आराम होगा उनके रोगको मूल से नहीं काटेगा। जो मिला वह खाया; फिर गरीब! इस प्रकार फिर दान फिर गरीब,—फिर दान फिर गरीबकी अनवस्थाका प्रसंग सदाके लिए चलता ही रहेगा। 'दान दो' का प्रतिपक्षी नारा है 'संग्रह मत करो' यह समस्याके मूल पर पहुँचता है। गरीबी व अमीरी, गड्ढा व ढेर इसी संग्रह-वृत्ति की देन है। यदि समाजका हरएक व्यक्ति अपनी औसतन आवश्यकता से अधिक संग्रह नहीं करेगा तो दान लेने व देनेकी कोई भी स्थिति पैदा नहीं होगी। कोई किसीकी सेवा (दया) या दान पर नहीं जीयेगा। उस सारा समाज स्वतन्त्रता, समानता और विश्व-प्रेमकी तिपाई पर अवस्थान करेगा।

समाजवादी जीवन-व्यवस्था

स्वतन्त्र भारतके नवनिर्माणको लेकर कांग्रेसके अध्यक्षपदसे पं० जवाहरलाल नेहरू समाजवादी व्यवस्थाकी उद्घोषणा कर चुके हैं। सर्वोदय के संचालक आचार्य विनोबा भावे भी उस घोषणाके साथ यह कहकर कि "समाजवादका[1] सम्बन्ध हिंसासे छूटकर जब अहिंसासे जुड़ गया तो वह सर्वोदयवाद ही हो गया है" संगति विठा रहे हैं। यह स्थिति किसी भी समाज-शास्त्रीसे छिपी नहीं है कि समाजवादकी अन्तिम मंजिल पर जहाँ उत्पादनके साधन, उत्पाद्य वस्तु और भूमि आदि जीवनके प्रत्येक उपकरण समाजके हैं और समाजका प्रत्येक व्यक्ति समुचित श्रम देकर संविभाग पानेका अधिकारी है उस व्यवस्था में वहाँकी जनताके स्वास्थ्य, शिक्षा व अन्न, वस्त्रकी चिन्ता राज्य व्यवस्था अपने पर ले लेती है; वैयक्तिक दानकी व संस्था विशेषके रूप में सेवा कार्यकी वहाँ कोई भी अपेक्षा नहीं रह जाती। रूढ़ लोगोंका यह प्रश्न हो सकता है कि यदि ऐसी व्यवस्था सफल हो गई तो अनादिकाल से चलनेवाले दान व सेवा (दया) धर्मका लोप ही हो जायगा। किन्तु उन्हें अब युगके साथ अपने विशाल दृष्टिकोणसे हरएक बातको परखना होगा। स्थिति यह है कि सेवा, दान आदि कार्य सदासे ही समाजके अंग हैं। समाज-व्यवस्थाके साथ सामाजिक कर्त्तव्य याने समाज-धर्म बदलता रहता है, नये-नये युगमें उसकी नई-नई परिभाषायें बनती रहती हैं। आज तक की समाज-व्यवस्थामें दान या सेवादि कार्य समाज धर्मके महत्त्वपूर्ण अंग थे। नई समाज-व्यवस्थामें "एकके लिए सब और सबके लिए एक" के सिद्धान्तको मानते हुए सबके सुख और दुःखकी अनुभूतिमें समान अनुभूति करना, जीवनोपयोगी सामग्री मात्र को वैयक्तिक सम्पत्ति न मानकर देश व समाजकी सम्पत्ति मानना व देशमें प्रचलित भूमि, धन आदिके वैयक्तिक अधिकारोंको वैध प्रयत्नोंसे

---

१. सर्वोदय सन् ५९, फरवरी।

हटाकर सामुदायिक अधिकारमें लेना ही सेवा धर्म—या किसी भी नामसे कहा जानेवाला समाज-धर्म रह जायगा।

जो लोग यह सोचते हैं कि चिरकालसे प्रचलित दान, दया (सेवा) आदि हमारी आत्माके शाश्वत धर्म थे अब वे केवल समाज-धर्म रह जायँगे तो हमारे लिए मुक्तिका द्वार ही बन्द हो जायगा; उनके लिए समझनेकी बात यह है कि पहले और अबमें केवल व्यवस्था भेद ही है। उस व्यवस्था-भेदसे अहिंसा, सत्य रूप स्वधर्मका लोप नहीं होता। यदि हम समाज-रचनाका एक ऐतिहासिक अध्ययन करते हैं तो वह आज तक व्यष्टिसे समष्टिकी ओर बढ़ती आ रही है। जहाँ व्यक्तिसे परिवार बना वहाँ मनुष्यकी ऐसी समझ बनी कि एक परिवारके हम सब एक हैं। उसी समष्टिवादका यह आज तकका चरम विकास है कि जैसे अबतक तुम पारिवारिक जनोंके बारेमें सोचते थे हम सब एक हैं, अब अपने समस्त देशवासियोंके बारेमें सोचो कि हम सब एक हैं। इससे भी आगे समष्टिवाद विकसित हुआ तो समाज-व्यवस्थाका पहला नारा यह होगा समस्त मानव जाति एक परिवार है।

पहले जब व्यक्ति अपने परिवारकी चिन्ता करता तो परिवार तकके समस्त लोगोंके लिए भोजन, पानी, रहन-सहनकी एक व्यवस्था होती थी। उस समय अपने पारिवारिक बच्चोंकी शिक्षाके लिए उसे अलग अध्यापककी व्यवस्था करनी पड़ती। यदि आस-पास जलाशय न होता तो पारिवारिक जनोंके लिए ही एक कुआँ खुदानेकी जरूरत पड़ती। किन्तु इस प्रणालीमें भी विकास हुआ। शिक्षाकी सामुदायिक व्यवस्था के लिए गांव या मुहल्ले के लोग एक पाठशाला व पानी की पूर्ति के लिये एक कुआँ बनाने लगे। पता नहीं चलता कि जब व्यक्ति परिवार की शिक्षा व पानी की व्यवस्था के लिये अपनी अर्थ-राशिसे कुछ खर्च करता था, तब उस पर धर्म या पुण्य की कोई छाप नहीं थी किन्तु ज्योंही गाँव या मुहल्लेकी सामुदायिक शिक्षा व पानीकी व्यवस्थाके लिए सामुदायिक अर्थ-संग्रह (चन्दा)

की प्रथा चली त्योंही हरएक चन्दा देनेवाला व्यक्ति अपने आपको धार्मिक अनुभव करने लगा। समाजशास्त्रकी दृष्टिसे तो वह सुविधावाद था कि जिससे एक-एक परिवार को एक-एक कुआँ व एक-एक पाठशालाका खर्च न उठाना पड़े और अल्पव्यय और अल्पश्रममें समस्त गाँव व मुहल्ले वालोंके लिए सबकी एक व्यवस्था बन जाय। व्यवस्था के इस परिवर्तनमें ऐसी कोई बात नहीं थी कि उसमें योगभूत होकर जिसका कि वह स्वयं भी एक फल भोक्ता है; कोई आदमी धार्मिक होनेका अहं करे। सामूहिक व्यवस्थामें अपने हिस्सेका योग दे देना यदि कोई विशेष धर्म है तब तो तथा प्रकारका धर्म अब किसको मिलेगा यह केवल प्रश्न ही रह जायगा, जबकि शासन-व्यवस्थाओंने शिक्षा और पानीको व्यक्ति-व्यक्तिके लिए सुलभ बना देना अपना दायित्व समझ लिया है। राज्य-व्यवस्था सामूहिक करोंसे अर्थ-संग्रह करती है और सामूहिक हितके लिए उसका उपयोग करती है; और जनतन्त्रकी शासन-व्यवस्था स्वयं सामूहिक है। जहाँ व्यवस्था सबकी और सबके लिए हो वहाँ धर्म और पुण्य किसके द्वारा और किसके लिए ? फिर भी यदि सामूहिक व्यवस्थामें धर्म और पुण्यका मोह रहता है तो फिर तो वह पारिवारिक व्यवस्थामें भी क्यों नहीं मान लिया गया होता जहाँ सब कमाते हैं और सब खाते हैं या कुछ कमाते हैं और सब खाते हैं।

पाठशाला, कुआँ, चिकित्सालय आदि धर्म और पुण्यके महान् साधन माने जानेवाले कार्य समाजवादी युगमें शासन-व्यवस्थाके ही अंग बन जाते हैं। समाजवादी शासन-व्यवस्था तथा प्रकारकी आवश्यकताओंको केवल संग्रह और शोषणकी भित्तिपर खड़े हुए धनियोंके धर्म व पुण्य कमानेके लिए नहीं छोड़कर उसे अपने दायित्वका विषय बना लेगी। नई जीवन-व्यवस्थाके निर्माणमें अपेक्षा है कि आज जन-जन अपने बद्धमूल संस्कारोंसे ऊँचे उठकर युगके नये आलोकमें जीवनके नये मूल्योंको खोज निकालें।